# पं० महेन्द्रकुमार 'न्यायाचार्य' के द्वारा सम्पादित एवं अनूदित 'षड्दर्शन-समुच्चय' की समीक्षा

पं० महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य के वैदुष्य को समझना हो, उनकी प्रतिभा एवं व्यक्तित्व का मूल्यांकन करना हो तो हमें उनकी कृतियों का अवलोकन करना होगा। उनके द्वारा सम्पादित, अनूदित और रचित कृतियों से ही उनके प्रतिभाशील व्यक्तित्व का परिचय मिल जाता है, जिनमें समदर्शी आचार्य हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' और उसकी गुणरत्न की टीका का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनकी यह कृति भारतीय ज्ञानपीठ, काशी ( वर्तमान में देहली ) से सन् १९६९ में उनके स्वर्गवास के दस वर्ष पश्चात् प्रकाशित हुई है। उनकी इस कृति पर उनके अभिन्न मित्र एवं साथी की विस्तृत भूमिका है। प्रस्तुत समीक्षा में उन पक्षों पर जिन पर पं० दलसुखभाई की भूमिका में उल्लेख हुआ है, चर्चा नहीं करते हुए मैंने मुख्यतः उनकी अनुवाद शैली को ही समीक्षा का आधार बनाया है।

यदि हम भारतीय दर्शन के इतिहास में सभी प्रमुख दर्शनों के सिद्धान्तों को एक ही ग्रन्थ में पूरी प्रामाणिकता के साथ प्रस्तुत करने हेतु किये गए प्रयत्नों को देखते हैं, तो हमारी दृष्टि में हरिभद्र ही वे प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने अपने समय के प्रमुख सभी भारतीय दर्शनों को निष्पक्ष रूप से एक ही ग्रन्थ में प्रस्तुत किया है। हरिभद्र के 'षड्दर्शनसमुच्चय' की कोटि का कोई अन्य दर्शन संग्राहक प्राचीन ग्रन्थ उपलब्ध नहीं होता है। यद्यपि हरिभद्र के पूर्व और हरिभद्र के पश्चात् भी अपने-अपने ग्रन्थों में विविध दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने का कार्य अनेक जैन एवं जैनेतर आचार्यों ने किया है, किन्तु उन सबका उद्देश्य अन्य दर्शनों की समीक्षा कर अपने दर्शन की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करना ही रहा है, चाहे फिर वह मल्लवादी का द्वादशारनयचक्र हो या आचार्य शंकर का सर्वसिद्धान्तसंग्रह या मध्वाचार्य का सर्वदर्शनसंग्रह। इन ग्रन्थों में पूर्वदर्शन का उन्हीं दर्शनों के द्वारा निराकरण करते हुए, अन्त में अपने सिद्धान्त की सर्वोपरिता या श्रेष्ठता की स्थापना की गई है। इसी प्रकार का एक प्रयत्न जैनदर्शन में हरिभद्र के लगभग तीन वर्ष पूर्व पाँचवी शताब्दी में मल्लवादी के नयचक्र में भी देखा जा सकता है।

उसमें भी एक दर्शन के द्वारा दूसरे दर्शन का खण्डन कराते हुए अन्तिम दर्शन का खण्डन प्रथम दर्शन से करवाकर एक चक्र की स्थापना की गई है। यद्यपि यह स्पष्ट रूप से जैनदर्शन की सर्वोपरिता को प्रस्तुत नहीं करता किन्तु उसकी दृष्टि भी स्वपक्ष अर्थात् अनेकान्तवाद के मण्डन और परपक्ष के खण्डन की ही रही है। यही स्थिति सर्वसिद्धान्तसंग्रह और सर्वदर्शनसंग्रह की भी है। उनमें भी स्वपक्ष के मण्डन की प्रवृत्ति रही है। अत: वे जैन दार्शनिक हों या जैनेतर दार्शनिक, सभी के दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में मूल उद्देश्य तो अपने दर्शन की सर्वोपरिता की प्रतिस्थापना ही रही है। इस प्रकार हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय की जो विशेषता है वह जैन और जैनेतर परम्परा के अन्य दर्शन-संग्राहक ग्रन्थों में नहीं मिलती। यह तो हरिभद्र की उदार और व्यापक दृष्टि ही थी जिसके कारण उनके द्वारा सम्प्रदाय-निरपेक्ष षड्दर्शनसमुच्चय की रचना हो पाई। उनके ग्रन्थ षड्दर्शनसमुच्चय और शास्त्रवार्तासमुच्चय इन दोनों में ही अन्य दर्शनों के प्रति पूर्ण प्रामाणिकता और आदर का तत्त्व देखा जाता है। सामान्यतया दार्शनिक ग्रन्थों में परपक्ष को एक भ्रान्त रूप में ही प्रस्तुत किया जाता है, किन्तु हरिभद्र की ही यह विशेषता है कि उन्होंने षड्दर्शनसमुच्चय में अन्य दर्शनों को अपने यथार्थ रूप में प्रस्तुत किया है।

हरिभद्र के इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ पर गुणरत्नसूरिकृत टीका भी महत्त्वपूर्ण है, किन्तु ज्ञातव्य है कि टीका में भी उस उदार दृष्टि का निर्वाह नहीं देखा जाता जो मूल ग्रन्थकार की है क्योंकि टीका में चतुर्थ अधिकार में जैनमत के प्रस्तुतीकरण के साथ अन्य मतों की समीक्षा भी की गई है, जबकि हरिभद्र की कारिकाओं में इस प्रकार का कोई भी संकेत नहीं मिलता है। इस टीका में जैनदर्शन की प्रतिस्थापना का प्रयत्न अतिविस्तार से हुआ है। टीका का आधे से अधिक भाग तो मात्र जैनदर्शन से सम्बन्धित है, अत: टीका की विवेचना में वह सन्तुलन नहीं है, जो हरिभद्र के मूल-ग्रन्थ में है।

हरिभद्र का यह मूल ग्रन्थ और उसकी टीका यद्यपि अनेक भण्डारों में हस्तप्रतों के रूप में उपलब्ध थे, किन्तु जहाँ तक हमारी जानकारी है, गुजराती टीका के साथ हरिभद्र के षड्दर्शनसमुच्चय का सर्वप्रथम प्रकाशन एशियाटिक सोसायटी, कलकत्ता से १९०५ में हुआ था। इसी प्रकार मणिभद्र की लघुवृत्ति के साथ इसका प्रकाशन चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी के द्वारा सन् १९२० में हुआ। इस प्रकार षड्दर्शनसमुच्चय मूल का टीका के साथ प्रकाशन उसके पूर्व भी हुआ था, किन्तु वैज्ञानिक रीति से सम्पादन और हिन्दी अनुवाद तो अपेक्षित था। इस ग्रन्थ का वैज्ञानिक रीति से सम्पादन और हिन्दी अनुवाद का यह महत्त्वपूर्ण

कार्य पंडित महेन्द्रकुमार आचार्य के द्वारा किया गया। सम्भवत: उनके पूर्व और उनके पश्चात् भी आज तक इस ग्रन्थ का ऐसा अन्य कोई प्रामाणिक संस्करण प्रकाशित नहीं हो पाया है।

अनेक प्रतियों से पाठों का मिलान करके और जिस ढंग से मूल-ग्रन्थ को सम्पादित किया गया था, वह निश्चित ही एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण कार्य रहा होगा जिसमें पंडित जी को अनेक कष्ट उठाने पड़े होंगे। दुर्भाग्य से इस ग्रन्थ पर उनकी अपनी भूमिका न हो पाने के कारण हम यह नहीं समझ पा रहे हैं कि मूलप्रतों को प्राप्त करके अथवा एक प्रकाशित संस्करण के आधार पर इस ग्रन्थ को सम्पादित करने में किन-किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ा होगा। इस ग्रन्थ के सन्दर्भ में उनकी पाण्डुलिपि से जो सूचना मिलती है, उससे मात्र इतना ही ज्ञात होता है कि उन्होंने षड्दर्शनसमुच्चय-मूल और गुणरत्न-टीका का अनुवाद २५/६/१९४० को ४ बजे पूर्ण किया था, किन्तु उनके संशोधन और उस पर टिप्पण लिखने का कार्य वे अपनी मृत्यु जून १९५९ के पूर्व तक करते रहे। इससे यह स्पष्ट पता चलता है कि उन्होंने इस ग्रन्थ को अन्तिम रूप देने में पर्याप्त परिश्रम किया है। खेद तो यह भी है कि वे अपने जीवनकाल में न तो इसकी भूमिका लिख पाए और न इसे प्रकाशित रूप में देख ही पाए।

भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित होकर यह ग्रन्थ जिस रूप में हमारे सामने आया उससे उनके श्रम एवं उनकी प्रतिभा का अनुमान किया जा सकता है। यह तो एक सुनिश्चित तथ्य है कि संस्कृत की अधिकांश टीकाएँ मूलग्रन्थ से भी अधिक दुष्कर हो जाती हैं और उन्हें पढ़कर समझ पाना मूलग्रन्थ की अपेक्षा भी कठिन होता है। अनेक संस्कृत ग्रन्थों की टीकाओं, विशेषरूप से जैनदर्शन से सम्बन्धित ग्रन्थों की संस्कृत टीकाओं के अध्ययन से मैं इस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि टीकाओं का अनुवाद करना अत्यन्त दुरूह कार्य है। सामान्यतया यह देखा जाता है कि विद्वज्जन अनुवाद में ग्रन्थ के मूलशब्दों को यथावत् रखकर अपना काम चला लेते हैं किन्तु इससे विषय की स्पष्टता में कठिनाई उत्पन्न होती है। मक्षिका स्थाने मक्षिका रखकर अनुवाद तो किया जा सकता है किन्तु वह पाठकों के लिए बोधगम्य और सरल नहीं होता। पं० महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य की अनुवाद शैली का यह वैशिष्ट्य है कि इनका अनुवाद मूलग्रन्थ और उसकी टीका की अपेक्षा अत्यन्त सरल और सुबोध है। दर्शन के ग्रन्थ को सरल और सुबोध ढंग से प्रस्तुत करना केवल उसी व्यक्ति के लिये सम्भव होता है जो उन ग्रन्थों को आत्मसात् कर उनके प्रस्तुतीकरण की क्षमता रखता हो। जिसे विषय-ज्ञान न हो वह चाहे कैसा ही भाषाविद् हो, सफल अनुवादक नहीं हो सकता।

अनुवाद के क्षेत्र में पं० महेन्द्रकुमार जी ने मूल टीका की अपेक्षा भी अर्थ में विस्तार किया है किन्तु इस विस्तार के कारण उनकी शैली में जो स्पष्टता और सुबोधता आई है वह निश्चय ही ग्रन्थ को सरलतापूर्वक समझाने में सहायक होती है। उदाहरण के रूप में ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व की सरल शब्दों में समीक्षा करते हुए वे लिखते हैं — ''अच्छा यह भी बताओ कि ईश्वर संसार को क्यों बनाता है? क्या वह अपनी रुचि से जगत् को गढ़ने बैठ जाता है? अथवा हम लोगों के पुण्य-पाप के अधीन होकर इस जगत् की सृष्टि करता है या दया के कारण यह जगत् बनाता है या उसने क्रीड़ा के लिये यह खेल-खिलौना बनाया है किंवा शिष्टों की भलाई और दुष्टों को दण्ड देने के लिए यह जगत्-जाल बिछाया है या उसका यह स्वभाव ही है कि वह बैठे-ठाले कुछ न कुछ किया ही करे।'' यदि हम उनकी इस व्याख्या को मूल के साथ मिलान करके देखते हैं तो यह पाते हैं कि मूल-टीका मात्र दो पंक्तियों में है जबकि अनुवाद विस्तृत है, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि उनका यह अनुवाद शब्दानुसारी न होकर विषय को स्पष्ट करने की दृष्टि से ही हुआ है। पं० महेन्द्रकुमार 'न्यायाचार्य' के इस अनुवाद शैली की विशेषता यह है कि वे इसमें किसी दुरूह शब्दावली का प्रयोग न करके ऐसे शब्दों की योजना करते हैं जिससे सामान्य पाठक भी विषय को सरलतापूर्वक समझ सके। इस अनुवाद से ऐसा लगता है कि इसमें पंडितजी का उद्देश्य अपने वैदुष्य का प्रदर्शन करना नहीं है, अपितु सामान्य पाठक को विषय का बोध कराना है। यही कारण है कि उन्होंने मूल और टीका से हटकर भी विषय को स्पष्ट करने के लिये अपने ढंग से उदाहरण प्रस्तुत किये हैं।

पं० महेन्द्रकुमार जी के इस अनुवाद की दूसरी विशेषता यह है कि उन्होंने अपनी व्याख्या में जनसामान्य के परिचित शब्दावली का ही उपयोग किया है। उदाहरण के रूप में जैन दृष्टि से ईश्वर के सृष्टिकर्ता होने की समीक्षा के प्रसंग में वे लिखते हैं कि यदि ईश्वर हम लोगों के पाप-पुण्य के आधार पर ही जगत् की सृष्टि करता है तो उसकी स्वन्त्रता कहाँ रही, वह काहे का ईश्वर। वह तो हमारे कर्मों के हुकुम को बजाने वाला एक मैनेजर सरीखा ही हुआ। यदि ईश्वर कृपा करके इस जगत् को रचता है तो संसार में कोई दुःखी प्राणी नहीं रहना चाहिये, सभी को खुशहाल और सुखी ही उत्पन्न होना चाहिये। इस शब्दावली से हम स्पष्ट अनुमान कर सकते हैं कि पंडित जी ने दर्शन जैसे दुरूह विषय को कितना सरस और सुबोध बना दिया है। यह कार्य सामान्य पंडित का नहीं अपितु एक अधिकारी विद्वान् का ही हो सकता है।

वस्तुतः यदि इसे अनुवाद कहना हो तो मात्र इस प्रकार कहा जा सकता

है कि उन्होंने टीका के मूल तर्कों और विषयों का अनुसरण किया है किन्तु वास्तव में तो यह टीका पर आधारित एक स्वतन्त्र व्याख्या ही है। दर्शन जैसे दुरूह विषय के तार्किक ग्रन्थों की ऐसी सरल और सुबोध व्याख्या हमें अन्यत्र कम ही देखने को मिलती है। यह उनकी लेखनी का ही कमाल है कि वे बात-बात में ही दर्शन की दुरूह समस्याओं को हल कर देते हैं। हरिभद्र के ही एक ग्रन्थ शास्त्रवार्तासमुच्चय की टीका का अनुवाद सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय के पूर्व कुलपति स्व० पं० बदरीनाथ शुक्ल ने किया है किन्तु उनका यह अनुवाद इतना जटिल है कि अनुवाद की अपेक्षा मूल-ग्रन्थ से विषय को समझ लेना अधिक आसान है। यही स्थिति प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री आदि जैन-दार्शनिक ग्रन्थों के हिन्दी अनुवाद की है। वस्तुत: किसी व्यक्ति का वैदुष्य इस बात में नहीं छलकता कि पाठक को विषय अस्पष्ट बना रहे, वैदुष्य तो इसी में है कि पाठक ग्रन्थ को सहज और सरल रूप में समझ सके। पं० महेन्द्रकुमार 'न्यायाचार्य' की यही एक ऐसी विशेषता उन्हें उन विद्वानों की उस कोटि में लाकर खड़ा कर देती है जो गम्भीर विषय को भी स्पष्टता के साथ समझने और समझाने में सक्षम हैं।

सामान्यतया संस्कृत के ग्रन्थों की व्याख्याओं या अनुवादों को समझने में एक कठिनाई यह होती है कि मूलग्रन्थ या टीकाओं में पूर्वपक्ष कहाँ समाप्त होता है और उत्तरपक्ष कहाँ से प्रारम्भ होता है, किन्तु पं० महेन्द्रकुमार जी ने अपने अनुवाद में ईश्वरवादी जैन अथवा शंका-समाधान ऐसे छोटे-छोटे शीर्षक देकर के बहुत ही स्पष्टता के साथ पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष को अलग-अलग रख दिया, ताकि पाठक दोनों को अलग-अलग ढंग से समझ सकें।

भाषा की दृष्टि से पण्डित जी के अनुवाद की भाषा अत्यन्त सरल है। उन्होंने दुरूह संस्कृतनिष्ठ वाक्यों की अपेक्षा जनसाधारण में प्रचलित शब्दावली का ही प्रयोग किया है। यही नहीं, यथास्थान उर्दू और अंग्रेजी शब्दों का भी नि:संकोच प्रयोग किया है। उनके अनुवाद में प्रयुक्त कुछ पदावलियों और शब्दों का प्रयोग देखें –– 'यह जगत् जाल बिछाया है', 'कर्मों के हुकुम को बजाने वाला मैनेजर', 'बैठे-ठाले, हाइड्रोजन में जब ऑक्सीजन अमुक मात्रा में मिलता है तो स्वभाव से ही जल बन जाता है; इसमें बीच के एजेण्ट ईश्वर की क्या आवश्यकता है', 'बिना जोते हुए अपने से ही उगने वाली जंगली घास', 'प्रत्यक्ष से कर्त्ता का अभाव निश्चित है', ( देखें पृ० १०२-१०३ ) आदि। वस्तुत: ऐसी शब्द-योजना सामान्य पाठक के लिये विषय को समझाने में अधिक कारगर सिद्ध होती है।

जहाँ तक पं० महेन्द्रकुमार जी के वैदुष्य का प्रश्न है इस ग्रन्थ की

व्याख्या से वह अपने आप ही स्पष्ट हो जाता है क्योंकि जब तक व्यक्ति षड्दर्शनों के साथ-साथ उनके पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष का सम्यक् ज्ञाता न हो तब तक वह उनकी टीका नहीं लिख सकता। यद्यपि प्रस्तुत टीका में जैनदर्शन के पूर्वपक्ष में एवं पूर्वपक्ष को विस्तार दिया है किन्तु अन्य दर्शनों के भी पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष तो अपनी जगह उपस्थित हुए ही हैं। अत: षड्दर्शनसमुच्चय जैसे ग्रन्थ की टीका पर एक नवीन व्याख्या लिख देना केवल उसी व्यक्ति के लिये सम्भव है जो किसी एक दर्शन का अधिकारी विद्वान् न होकर समस्त दर्शनों का अधिकारी विद्वान् हो। पं० महेन्द्रकुमार जी की यह प्रतिभा है कि वे इस ग्रन्थ की सरल और सहज हिन्दी व्याख्या कर सके, दार्शनिक जगत् उनके इस अवदान को कभी भी नहीं भुला पाएगा। वस्तुत: उनका यह अनुवाद, अनुवाद न होकर एक स्वतन्त्र व्याख्या ही है। उनकी वैज्ञानिक सम्पादन-पद्धति का यह प्रमाण है कि उन्होंने प्रत्येक विषय के सन्दर्भ में अनेक जैन एवं जैनेतर ग्रन्थों से प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। सन्दर्भ-ग्रन्थों की यह संख्या सम्भवत: सौ से भी अधिक होगी जिनके प्रमाण, टिप्पणी के रूप में तुलना अथवा पक्ष-समर्थन की दृष्टि से प्रस्तुत किये गए हैं। ये टिप्पण पं० महेन्द्रकुमार जी के व्यापक एवं बहुमुखी प्रतिभा के परिचायक हैं। यदि उन्हें इन सब ग्रन्थों का विस्तृत अवबोध नहीं होता तो यह सम्भव नहीं था कि वे इन सब ग्रन्थों से टिप्पण दे पाते। परिशिष्टों के रूप में षड्दर्शनसमुच्चय की मणिभद्र कृत लघुवृत्ति, अज्ञातकर्तृक अवचूर्णि के साथ-साथ कारिका, शब्दानुक्रमिका, उद्धृत वाक्य, अनुक्रमणिका, संकेत-विवरण, आदि से यह स्पष्ट हो जाता है कि पं० महेन्द्रकुमार जी केवल परम्परागत विद्वान् ही नहीं थे, अपितु वे वैज्ञानिक रीति से सम्पादन कला में भी निष्णात थे। वस्तुत: उनकी प्रतिभा बहुमुखी और बहुआयामी थी, जिसका आकलन उनकी कृतियों के सम्यक् अनुशीलन से ही पूर्ण हो सकता है। षड्दर्शनसमुच्चय की गुणरत्न की टीका पर उनकी यह हिन्दी व्याख्या वस्तुत: भारतीय दर्शन जगत् को उनका महत्त्वपूर्ण अवदान है जिसके लिये वे विद्वज्जगत् में सदैव स्मरण किये जाते रहेंगे।

●